RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-03
Issue-11
November -2018

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com [UGC Listed Journal]

भारतीय संस्कृति की आधारशिला : कर्म और कर्मफल सिद्धान्त

डॉ. पुष्पा

सहायक आचार्य, गौरी देवी राज. महिला महाविद्यालय, अलवर (राज0)

(Author Correspondence Email: dkmeena999@yahoo.com)

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।[1]

उपरोक्त पंक्ति में कथित बात बिल्कुल सही है कि इस संसार में कोई एक क्षण भी कर्मरहित नहीं रह सकता है। भारतीय दर्शन में स्वीकृत विषय जन्म, मृत्यु, कर्म, स्वर्ग, नर्क, आत्मा, ब्रह्म इत्यादि सदैव विद्वानों के मंथन का विषय रहे हैं। महर्षि दयानन्द के अनुसार ''मन, इन्द्रियाँ और शरीर से चेष्टा विशेष का नाम कर्म है,'' हमारे जीवन का सारा कार्यकलाप, सोच विचार और वाणी का व्यवहार कर्म की श्रेणी में आ जाता है। वेद कहता है कि ''हे मनुष्य ! इस संसार में धर्मयुक्त वेदोक्त निष्काम कर्मों को करते हुए सौ वर्ष जीवन की इच्छा कर'' अर्थात् मानव जीवन को सही ढंग से जीने का केवलमात्र एक ही साधन है वह है वेदोक्त कर्मों को करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा की जाए।[2] अतः मानव अपने जीवन में बिना कर्मों के रह नहीं सकता चाहे वह कर्म मानसिक हो, वाचिक हो या शारीरिक हो, यह कर्म तीन प्रकार से हैं – शुभ, अशुभ, और मिश्रित। वेदोक्त कर्म शुभ कर्म तथा जो कर्म वेद विहित नहीं है, जिनका वेदों में निषेध बताया है वह अशुभ कर्म कहे जाते हैं। तीसरे प्रकार के मिश्रित कर्म वह है जो न शुभ है, न ही अशुभ, इस प्रकार के कर्मों को मिश्रित कर्म कहते हैं। योगदर्शनकार महर्षि पतजलि ने योगसूत्र में चार प्रकार के कर्म बताते हुए कहा है कि – योगी का कर्म पाप–पुण्य से रहित होता है और अयोगियों का कर्म निम्न प्रकार के होते है – पापात्मक, पाप पुण्यात्मक, पुण्यात्मक और अपुण्य–अपापात्मक – चार प्रकार के कर्म। पापात्मक कर्म दुरात्माओं के होते हैं, वह अविद्या, अस्मिता, रोग, द्वेष, अभिनिवेश, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, हिंसा, निर्लज्जता आदि से प्रभावित होते हैं। दूसरे पाप–पुण्यात्मक कर्म बाहरी साधनों द्वारा सिद्ध होते हैं क्योंकि उसमें दूसरों के प्रति हिंसा आदि दोषों से दूसरों को पीड़ा तथा दया के द्वारा दूसरों की भलाई रूपी कर्माशय का संग्रह होता है। तृतीय पुण्य कर्म तप, स्वाध्याय और ध्यान करने वालों का होता है क्योंकि यह मन के अधीन होते हैं जिसमें दूसरों की पीड़ा नहीं होती है। चतुर्थ व अंतिम पाप–पुण्य रहित कर्म जिसमें पञ्चक्लेश क्षीण देह वाले सन्यासियों को प्राप्त होते हैं।[3] मिश्रित कर्म की व्याख्या बहुत जटिल है क्योंकि व्यक्ति द्वारा लोकैषणा हेतु दिया दान मिश्रित कर्म है दान देना तो शुभ है ''लोकैषणा'' वृति तो अशुभ है। वेद निष्कामकर्म पर बल देता है परन्तु लोक में नाम प्रसिद्धि की कामना से किया गया दान सकाम हो गया जबकि गीता में भी निष्काम कर्म करने पर बल दिया है।[4] गीता में कहा है कि कर्म से पहले स्वार्थ रहित होकर कार्य करना सन्यास है और प्राप्त फल को अपना न समझकर परमात्मा में अर्पण करना त्याग है। कर्मयोग तीन प्रकार का है – पहला शुभ कार्यों को करना, अशुभ कर्मों को न करना, यह कर्मयोगं की सीढ़ी का प्रथम सोपान है। शुभ कर्म भी दो प्रकार के हैं – सकाम और निष्काम कर्म। कर्मयोगीं को अकार्य कार्य और सकाम भावना से कर्म करना श्रेष्ठ नहीं है अपितु निष्काम कर्म अर्थात् बिना कामना के कर्म करना ही सर्वश्रेष्ठ बताया है क्योंकि निष्काम कर्म द्वारा जीव को सब प्रकार की सिद्धि मिलती है[5] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सभी अपने–अपने कर्मों में प्रवत्त हो रहे हैं। अपने कर्तव्य कर्मों को पूरी तल्लीनता से करके फिर प्राप्त फल को प्रभु अर्पण करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त करता है। निष्काम कर्म का अर्थ निष्कर्मता नहीं है अर्थात् कर्म रहित होना नहीं है अपितु आसक्ति रहित होना है। हम जो कार्य करे बिना फल की आसक्ति के, कर्तव्य बोध के कारण दायित्वों को सम्पादित करे। मानव तो बिना कर्म किये रह नहीं सकता इसलिए गीता भी कर्मों के त्याग को नकारती है। गीतानुसार यज्ञ, दान, तप इनसे सम्बन्धित कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, ये कर्म पवित्र करने वाले हैं परन्तु यह कर्म आसक्ति और फल की इच्छा छोड़कर ही करने चाहिए।[6] नित्य कर्मों का त्याग उचित नहीं है, नित्य कर्मों का आलस्य या अज्ञानतावश त्याग तमोगुणी त्याग कहलाता है (गीता 18/07)। जो व्यक्ति कर्मों को शरीर के कष्टों व झंझटों का कारण मानकर त्यागते हैं वह राजस त्याग (18.8) कहा गया है और जब कर्म को फल की इच्छा और आसक्ति छोड़कर तथा अपने कर्तव्य कर्म समझ कर किया जाता है वह त्याग सात्विक त्याग (18.9) कहा जाता है। अतः कर्मों के प्रति निष्काम भावना का होना श्रेष्ठता की स्थिति है कर्म के विषय में यदि बात की जाए तो श्रीमद्भगवदगीता में प्रतिपादित कर्म की व्याख्या बिना बात निष्प्राण हैं। गीता संपूर्ण संसार में अपने सजीव सिद्धान्तों के माध्यम से सदैव अजर–अमर रहेगी। श्री अरविन्द के शब्दों में ''प्रत्यक्ष अनुभव से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि श्रीमद्भगवदगीता वर्तमान युग में भी उतनी ही प्रदर्शिका व स्फूर्तिदात्री है जितनी महाभारत के युद्ध के समय थी। गीता के संदेश का प्रभाव केवल दार्शनिक अथवा विद्वतचर्चा का विषय नहीं है अपितु आचार–विचारों के क्षेत्र में भी विद्यमान होकर मार्ग बताने वाला है। गीता हमें जीवन जीने की कला सीखाती है यदि हम गीता में बताई बातों का अनुकरण करे तो हम बिना राग–द्वेष के तनावरहित जीवन जीने में सफल हो सकते हैं। गीता में बताया है कर्मों का फल सबको मिलता है कोई भी मनुष्य कर्मफल भोगने से बच नहीं सकता परन्तु कब, कितना, कैसे फल मिलेगा यह हमें ज्ञात नहीं है और कर्मों का फल मिलना या न मिलना इस पर हमारा अधिकार नहीं है हमारा कार्य केवल कर्म करने का है। मुझे अमुक कार्य का अमुक फल मिले इस आसक्ति से रहित होकर कर्म करना चाहिए।[7] फलासक्ति छोड़कर मनुष्य को कर्तव्य कर्म अवश्य करना चाहिए परन्तु न तो कर्म की आसक्ति में फंसे और न कर्म को छोड़े।[8] फल को दृष्टि में

RRIJM 2015, All Rights Reserved

रखकर कर्म करने वाले लोग दीन अथवा कृपण होते हैं (गीता 2/48, 49) श्रीकृष्ण कहते हैं ''योग कर्मसु कौशलम्'' कर्मों को कुशलतापूर्वक करना ही योग है।

भारतीय संस्कृति में 'कर्मो' के प्रति विशेष आस्था प्रकट होती है कि ''जैसे कर्म करोगे वैस फल भोगेगे'' यह बात तो सामान्य व्यक्ति भी जानता है कि यदि मैं बुरे कर्म करूँगा तो परीणति भी बुरी ही होगी। कर्मफल व्यवस्था को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक ईश्वरीय व्यवस्था में कर्मफल तथा दूसरा मानवीय व्यवस्था में कर्मफल। पहली ईश्वरीय कर्मफल व्यवस्था जो परमात्मा के सार्वभौम नियमों द्वारा संचालित होती है। यह व्यवस्था सार्वकालिक, सार्वभौमिक व अटल व्यवस्था है जिसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता। पूर्व में थी, वर्तमान में है और आगे भी रहेगी। दूसरी मानवीय कर्मफल व्यवस्था जो मानव समाज को सुचारू रूप से चलाने हेतु संचालित होती है जो देशकाल, परिस्थितिवश परिवर्तित होती रहती है। वेद में भी मानवीय समाज को चलाने हेतु राजा को अधार्मिकों, अपराधियों आदि की दण्ड़ देने का अधिकार दिया गया। यह ईश्वर द्वारा मानवीय कर्मफल व्यवस्था का संकेत है।[9]

संस्कृत साहित्य में कर्म और कर्मफल सिद्धान्त से सम्बन्धित विविध दृष्टांत उपलब्ध होते हैं। महाकवि भर्तृहरि की 'कर्म' पर अटूट श्रृद्धा उनके शतकत्रय के माध्यम से प्रकट होती है। व्यक्ति को कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। कर्म व्यक्ति के जीवन की दिशा निर्धारित करने में महत्वपूर्ण कारक है। उन्होंने कहा कि न सुन्दर आकृति से फलों की प्राप्ति होती है, न उच्च कुल व सद्भाव से, न कठिन परिश्रम से, न स्वामी सेवा से अपितु अपने पूर्व जन्मों में किये संचित कर्म ही अवसर आने पर वृक्ष के समान फल देने वाले होते हैं।[10] भर्तृहरि कहते हैं 'कर्म' की महिमा असीमित है, जिसके अधीन केवल मनुष्य ही नहीं ईश्वर भी है– ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी कर्मों के अधीन हैं। कर्म की महिमा से सभी परिचित है इसलिए भर्तृहरि भी कर्म को नमन करते हैं। भर्तृहरिकालीन संस्कृति में 'कर्म सिद्धानत' पर विश्वास सकारात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है। इसी प्रकार श्री हर्ष भी कर्मवाद और भाग्यवाद में आस्था रखते हैं। यह उनके महाकाव्य नैषधीयचरितम् में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है उनका मानना था कि व्यक्ति अपने–अपने भाग के अनुसार ही सभी चेष्टाएँ करता है, स्वेच्छा से कुछ भी नहीं करता। जैसे चकवा और चकवी (युगल)। भाग्यवाद के मूल में वह कर्म को स्वीकार करते हैं। अतः कर्म की उपेक्षा नहीं की जा सकती। व्यक्ति को स्वीकृत कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। स्वर्ग को जाते हुए महर्षि नारद के तेज से सूर्य निस्तेज हो जाता है। इस सम्बन्ध में कवि श्री हर्ष कहते हैं यह कर्मवाद का ही फल है – सूर्य अपने तेज से चन्द्रमा को अभिभूत कर देता है, फलस्वरूप नादर जी के तेज से सूर्य को भी निस्तेज होना पड़ा अर्थात् इस संसार में अपने किये कर्म का फल कौन नहीं भोगता ?[11] महाकवि श्री हर्ष का मानना है त्रिविध कर्म (संचित, क्रियमाण, प्रारब्ध) ही मनुष्य के भाग्य निर्माता है। व्यक्ति इन कर्मों के अधीन रहकर एक योनि से दूसरी योनि, दूसरी से तीसरी योनि इत्यादि में लगातार जन्म और मृत्यु के बंधन में फँसकर आवागमन करता रहता है। निरन्तर कर्म प्रवाह के कारण व्यक्ति मुक्ति अथवा मोक्ष की ओर प्रवृत्त नहीं हो पाता है और दुःख भोगता है। श्री हर्ष के नैषधीयचरित में कर्म के प्रति आस्था इस स्थल पर भी मिलती है जब दमयन्ती अपने दूसरे जन्म में कर्म विपाक के कारण ही यथार्थ नल में अनुरक्त हुई कृत्रिम नल रूपधारी इन्द्रादि देवों में नहीं।[12] प्रस्तुत स्थल पर कर्म को ही आधार बताया है दमयंती को राजा नल की प्राप्ति होने में।

इसी प्रकार मनुस्मृति में कहा है आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, यम, वायु रात्रि, धर्म तथा दोनों सन्ध्याएँ सभी लोगों के शुभ और अशुभ कर्मों को जानते हैं।[13] आत्मा ही हमारे शुभ और अशुभ कर्मों का साक्षी है।[14] स्वामी विवेकानन्द कर्म और कर्मयोग में अन्तर, स्वामी वि. कर्मवादी थे उनसे मतानुसार घर छोड़ना, अपने कर्तव्यों से विमुख होना अपराध है। दुनिया में घुसो और कर्म के रहस्य को सीखो। संसार की मशीन के पहिये से मत भागो, इसके भीतर खड़ें होकर देखो यह कैसे चलती है तब इसका रास्ता पा सकोगे। विवेकानंद जी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब तक हमारे कर्म अर्थात् कार्यों में अहंकार की भावना विद्यमान रहती है जैसे– मैं कार्य करता हूँ, मुझे यह मिलना ही चाहिए, तब तक व्यक्ति बंधन में बँधा रहता है, ऐसे कार्यों को कर्म कहते हैं परन्तु जब व्यक्ति अहंकार को त्याग कर आत्मा की वास्तविक प्रकृति को जान लेता है तब उसके कार्य बंधनकारी नहीं होते अपितु कर्म का प्रतीक मात्र बन जाते हैं, यही कर्मयोग है जो व्यक्ति को मुक्ति दिलाता है। स्वामी जी ने कर्मों को सकाम भावना से करने के स्थान पर त्याग की भावना से कार्य करने पर बल दिया। इसी प्रकार का भाव श्रीमद्भगवदगीता के तृतीय अध्याय 'कर्मयोग' में भी इंगित होता है।[15] विवेकानंद के विचार में बुद्ध कर्मयोग के सर्वोच्च आदर्श थे जिन्होंने सर्वोच्च दर्शन देने के साथ–साथ सूक्ष्मतम जीव के प्रति भी गहरी संवेदना प्रकट की। अपनी शिष्या को वह इस गुण से अपनी इस कविता द्वारा सम्पन्न देखना चाहते थे।

यथा – ''सारे मनुष्य अच्छे कार्य करे
जो भविष्य की भलाई की निधि हो,
क्योंकि इस जीवन में इकट्ठा पुण्य
अगले जन्म में कृपा प्राप्त कराएगा।''

अतः कर्म की मौलिक महता स्पष्ट है। उपनिषदों का मूलमंत्र है कि मनुष्य वही बोलता है, उसे करता है और जैसा करता है, वैसा ही बनता है। श्री माहेश्वर गीता के अनुसार जो व्यक्ति शुद्ध कुल में उत्पन्न होता है, जो किसी की हिंसा नहीं करता, जिसके मन में सभी जीवों के प्रति स्नेह की भावना, जो सभी को अपने समान मानता हुआ, उन पर दया दृष्टि रख्ता है ऐसा उत्तम व्यक्ति देवत्व को प्राप्त होता हुआ, प्रसन्नतापूर्वक देवलोक में जाकर वहाँ के सुखदायक भावों का उपभोग करता है।[16] सत्कर्मां को करने वाले सदाचार और दीर्घजीवी मनुष्यों के यह लक्षण है, जिसका उपदेश साक्षात् ब्रह्मा ने दिया है।

स्वामी विवेकानन्द का मानना था कि उठो जागो और तब तक रूको नहीं जब तक की तुम अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लेते।

RRIJM 2015, All Rights Reserved

मीमांसादर्शन में जैमिनी मुनि लिखते हैं कि कर्तव्य कर्म करने में जीवात्मा को कर्ता होने के कारण इच्छानुसार कर्म करने में स्वतंत्र है।[17] मनुस्मृति भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि मन, शरीर और वचन से किये जाने वाले शुभ अशुभ फल को देने वाले होते हैं और उन कर्मों के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन गतियाँ होती है।[18]

कर्मों के शुद्ध स्वरूप को समझने तथा साधना उपासना के लिए भी सत्य, रजस, तमस तीनों गुणों को समझना आवश्यक है क्योंकि इन्हीं गुणों द्वारा प्रभावित होकर जीव शुभ–अशुभ कर्म करता है। मनुस्मृति और गीता में इन गुणों की विस्तृत व्याख्या की गई है। गीता में कहा है कि प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिविध गुण अविनाशी आत्मा को अविवेक से शरीर में बाँधते हैं अर्थात् इन तीनों के प्रभाव से कर्म करता हुआ जीव आवागमन के चक्र में लगा रहता है।[19] पूर्व मीमांसा मुख्यतः कर्म विषयक है। इसका मुख्य सम्बन्ध ब्राह्मण ग्रन्थों से है। अतः मीमांसा (वेदान्त दर्शन) ज्ञान विषयक है जिसका सम्बन्ध उपनिषदों से है। ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है। अतः मानव जीवन का अंतिम ध्येय को प्राप्त करने का साधन ज्ञान है और कर्म के बिना ज्ञान प्राप्ति नहीं हो सकती। महर्षि दयानन्द ने दर्शनों के स्वाध्याय क्रम को मीमांसा से प्रारंभ कर वेदान्त पर समाप्त किया है अर्थात् कर्म से ज्ञान तक। यजुर्वेद में भी इसी रहस्य को बताया है कि अविधा अर्थात् कर्म से मृत्यु को जीतकर विद्या अर्थात् ज्ञान से अमृत को प्राप्त किया जा सकता है।[20] सम्पूर्ण भारतीय वाड्.मय में चाहे वह किसी भी भाषा का हो कर्म और कर्मफल सिद्धांत का वर्णन अलग–अलग प्रसंगों में अनेकों स्थलों पर बहुत ही सुन्दर तरीके से मिलता है। इसी प्रकार 'शतकत्रय' रचयिता 'भर्तृहरि' भी अपनी रचनाओं में कर्मों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि मनुष्यों को उनके कर्मानुसार सुख और दुःख प्राप्त होते हैं। वर्तमान जन्म में भोगा जाने वाले सुख अथवा दुख पूर्वजन्मों के कर्मों का ही परिणाम है और भाग्य निर्धारण भी कर्मों द्वारा होता है। अतः व्यक्ति को सोच विचार कर ही कर्म करने चाहिए यदि बुरे कर्मों में वृद्धि होगी तो अगले जन्मों में दुःख भोगना पड़ेगा इसलिए बुरे कर्मों की अपेक्षा अच्छे कर्मों की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। कर्मों के अनुसार ही भाग्य बनता है। अतः जीवन रूपी यज्ञकुण्ड में विवेकपूर्वक ही कर्मों की आहूति देनी चाहिए अन्यथा पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहेगा।

युद्धभमि में अर्जुन के असमंजस स्थिति में होने पर भगवान श्री कृष्ण द्वारा जो उन्हें उपदेश दिया उसका भी सार यही है। गीता के तृतीय अध्याय नाम ही 'कर्मयोग' है जिसमें शंकाग्रस्त अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रश्न करते हैं कि यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर आप मुझे कर्म करने के लिए क्यों प्रेरित कर रहे हैं ? कभी आप निष्काम कर्म पर बल देते हैं, कभी ज्ञान को श्रेष्ठ घोषित करते हैं, जिसके कारण मैं संदेहग्रस्त हो रहा हूँ कि मेरे लिए क्या श्रेष्ठ है ज्ञान या कर्म ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री कृष्ण कहते हैं संसार में दो निष्ठा प्रचलित है – ज्ञानयोग, कर्मयोग। ये दोनों अलग–अलग मार्ग नहीं है अपितु एक ही वस्तु के दो रूप है, इनमें साधन (कर्मयोग) साध्य (ज्ञान योग) सम्बन्ध है। कहने का तात्पर्य है कि कर्मों के आरंभ बिना ही मानव निष्कर्म्य ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता है और कर्मों के त्याग करने मात्र से ही अन्तःकरण की शुद्धि नहीं हो सकती। कर्म का फल अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान ही है।[21] भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि यद्यपि मुझे कर्म करने की आवश्यकता नहीं है तथापि केवल लोक संग्रह के लिए मैं कर्म करता हूँ ताकि मैं दूसरों के लिए आदर्श बन सकूँ। यह संसार का नियम है कि लोग बड़े लोगों का अनुकरण करते हैं। सदानन्द योगेन्द्र के वेदान्त सार में अधिकारी के सम्बन्ध में नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित, उपासना कर्मों की बात कही है वेदान्त को पढ़ने के अधिकारी के सम्बन्ध में कुछ कार्य करने का व कुछ को निषेध करने के लिए निर्देशित किया है। जैसे – काम्य व निषिद्ध कर्मों का त्याग अर्थात् वह कर्म जो कामना के वशीभूत होकर किये जाते हैं 'ज्योतिष्टोम यज्ञ' काम्य कर्म है। उसी प्रकार ब्राह्मण हत्या, गौवध निषिद्ध कर्म बताये है। नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित, उपासना कर्मों द्वारा समस्त पाप नष्ट होते हैं और चित्त निर्मल बनता है। अतः इन्हें करने का विधान बताया है। नित्यकर्म– सन्ध्यावंदन, पञ्चमहायज्ञ, नित्यस्नान आदि, नैमितिक कर्म जो हेतुभूत किये जाते हैं जैसे ग्रहण स्नान आदि, प्रायश्चित कर्म अर्थात् भूल की सुधार हेतु किये गये कर्म चन्द्रायण व्रत इत्यादि, उपासना कर्म जो अपनी मनोवृति की स्थिरता के लिए किये जाते हैं जैसे – शाण्डिल्य विद्या आदि कर्म करणीय है।[22]

वेदान्तसार में जीवनमुक्त का लक्ष्ण बताया है जिसके स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म को जान लेने से, ब्रह्मा विषयक अज्ञान के बाधित हो जाने से, अपने स्वरूपभूत अखण्डब्रह्म के साक्षात्कार हो जाने पर सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। योगी की साधक को ब्रह्ममनिष्ठ संज्ञा प्राप्त होती है। कर्म तीन प्रकार के हैं संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध जब संचित व क्रियमान कर्म विनष्ट हो जाते हैं उसे जीवन मुक्त कहा जाता है परन्तु प्रारब्ध कर्मों के फलों को तो भोगना ही पड़ता है, भोगने के अनन्तर वह नष्ट हो जाते हैं। वह स्थिति जब त्रिविध कर्मफल व संस्कार कुछ भी शेष नहीं रहता वही स्थिति 'विदेह मुक्ति' कहलाती है।[23]

तैत्तीय उपनिषद में कहा गया है कि व्यक्ति जो मन से विचार करता है, वहीं वाणी से बोलता है और जो वाणी से बोलता है, वही कर्म करता है। मनु त्रिविध मानसिक कर्मों को स्पष्ट करते हुए बचाते हैं कि – (1) दूसरों की सम्पत्ति को अन्यायपूर्वक लेने का विचार करना (2) मन से निषिद्ध कर्मों को करने की इच्छा करना (3) असत्य, हठ मानसिक अशुभ कार्य हैं।[24] न्यायपूर्वक दूसरे की सम्पत्ति लेना, शास्त्र निहित कर्म करना, अस्तिक मन एवं बुद्धि बनाये रखना – मानसिक शुभ कर्म कहे जाते हैं। कटु बोलना, असत्य बोलना, परोक्ष में किसी का दोष कहना, निष्प्रयोजनपूर्व बातें करना अशुभ वाचिक कर्म है।[25] इसके विपरीत मधुर व सत्य बोलना, परोक्ष में भी दूसरों के दोषों को छिपाना व गुणों को बताना वाचिक शुभ कर्म कहलाते हैं। इसी प्रकार न्यायपूर्वक दी हुई वस्तु लेना, शास्त्रविहित हिंसा करना, अपनी स्त्री के साथ रहना इत्यादि शारीरिक शुभ कर्म कहलाते है। मनुस्मृतिकार नियमों के माध्यम से कर्मों के प्रति लोगों को सचेत करते हुए व्यक्ति के व्यक्तित्व में शारीरिक, मानसिक, वाचिक नैतिकता की स्थापना करते हैं। वह कहते हैं कि व्यक्ति शारीरिक कर्म के

दोषों से स्थावर, वाचिक कर्म से पशु–पक्षी एवं मानसिक कर्म के दोषों से अन्य जातियों को प्राप्त करते हैं[26] अर्थात् शुभ कर्मों से देवयोनि को, मिश्रित कर्मों से मनुष्य योनि को और केवल अशुभ कर्मों से तीर्थक योनि को प्राप्त करता है। मनु का मानना है व्यक्ति को सुख और दुःख मिलना उसके कर्मों का ही परिणाम है जो उसे भोगना ही पड़ेगा, सुख अथवा दुःख उसे भोगने से कोई भी नहीं रोक सकता है क्योंकि जो बोया है उसे काटना ही पड़ेगा। यही संसार की परिपाटी है।

उपसंहार –

कर्म हिन्दू धर्म की वह अवधारणा है जो एक प्रणाली के माध्यम से कार्य–कारण सिद्धान्त को परिभाषित करती है। भारतीय दर्शन में कार्य–कारण सिद्धान्त अत्यन्त प्रचलित सिद्धान्त है। कार्य–करण सिद्धान्तानुसार कारण की विशेषताओं वाला कार्य होता है जो विशेषताएँ कारण की होती है। वह कार्य में भी पाई जाती है। उसी प्रकार कर्म सिद्धान्त भी है यह कहता है कि व्यक्ति अपने कर्मानुसार ही सुख अथवा दुःख का भागी होता है। जैसे कर्म उसी के अनुरूप फल की प्राप्ति होगी यदि अच्छे कर्म अधिक किये है तो सुख की अधिक प्राप्ति होगी और यदि बुरे कर्म ज्यादा किये है तो दुःखों का भागी बनना पड़ेगा यही भारतीय दर्शन का सर्वमान्य कर्मफल सिद्धान्त है।

व्यक्तिक और सामाजिक जीवन में कर्म सिद्धानत का अत्यधिक महत्व है। व्यक्ति को नैतिकता का पाठ पढ़ाता है, न केवल नैतिकता का पाठ पढ़ता है अपितु उसे नैतिकता के पथ पर अग्रसर भी करता है। व्यक्ति सचेत रहता है कि मुझे क्या कर्म करना है और क्या कर्म नहीं करना है, ऐसा करने से मुझे क्या लाभ होगा व क्या हानि होगी इसका भी ज्ञान रहता है। कर्म अनादि है और इसके अखण्ड व्यापार में परमेश्वर भी हस्तक्षेप नहीं करते हैं। गीता में कहा है कि ''गहना कर्मणो गतिः'' अर्थात् कर्म की गति कठिन है, कर्मबन्धन भी बहुत दृढ़ है। कर्मों के प्रहार से कोई भी नहीं बच सकता है। वायु कर्म से चलती है, सूर्य चन्द्रादि कर्म से ही घूमते हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि समग्र देवता भी कर्मों के पाश में बँधे हुए हैं। यह विश्वास व्यक्ति के व्यवहारों पर एक प्रभावशाली नियन्त्रक का भी कार्य करता है, उसके दुराचरणों पर रोक लगाता है, साथ ही उसे संतोष भी प्रदान करता है। नैतिक उत्तरदायित्व पर बल देने के साथ–साथ आलस्य त्याग की भावना को बढ़ावा देने में सहयोगी है। हमारे व्यक्तित्व में जो बुरी आदते हैं उनका भी निवारण कर सकते हैं। कर्म सिद्धान्त व्यक्तित्व सुधार कर जीवन जीवने की कला में मददगार है। कर्म सिद्धान्त व्यक्ति को परहित कार्यों को करने के प्रति उत्साहित व निर्देशित करता है। परहित के कार्य करने वालों के लिए पुण्य कर्मों के फलों का संचय होता है जो अगले जन्मों में उसे सुखों का भागी बनाता है।

समस्त वर्णन से यह तो पूरी तरह स्पष्ट हो गया है कि व्यक्ति के जीवन में मिलने वाला सुख और दुःख का निर्णायक तत्व 'कर्म सिद्धान्त' ही है। जो हमें जीवन जीने की सही राह दिखाकर जीवन में अनुशासन के महत्व को स्पष्ट भी करता है। आज के मशीनी, भौतिकवादी युग में हमें कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, भाग्य, कर्मफल आदि केवल उपदेश सदृश लगते हैं परन्तु आज हम तनावयुक्त जीवन जी रहे हैं, उसका मूल यही है कि वर्तमान में हम पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण करते जा रहे हैं। हम हमारी धरोहर की उपेक्षा कर केवल आधुनिक बनने की ललक में वेद, पुराण, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, दार्शनिक ग्रन्थों में वर्णित उपयोगी सत्य की अनदेखी कर पतन की ओर उन्मुख हो रहे है इसलिए हमें अपनी धरोहर स्वरूप साहित्य में व्याप्त मानवीय मूल्यों को विस्मृत न करते हुए उन्हें स्मृतिपटल पर सदैव नवीन बने रहने देना चाहिए। अतः समाज में जो बुराइयाँ व्याप्त है। उन सभी दोषो का हल हमारी प्राचीन संस्कृति में विराजमान है यथा – भ्रष्टाचार, अनाचार, तनाव, हिंसा, लालच इत्यादि के मूल में है– ''अज्ञान'' यदि हम अपना अज्ञान नष्ट कर दे जो ज्ञान के माध्यम से होगा तब एक नया सवेरा, नया समाज होगा जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के प्रति सचेत व सजग होकर कर्म करेगा और तभी विवेकानन्द का कथन भी साकार होगा यथा – ''जब तक सफलता नहीं मिले तब तक लगातार कर्म करते रहो, निःसंदेह ही सफल होगे।''

संदर्भ ग्रन्थ सूची

01. श्रीमदभगवदगीता, तृतीय अध्याय, 05 श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर उ.प्र.

02. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।
यजुर्वेद संहिता 40.2, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली।

03. ''कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्'
महर्षि पतजलि योगसूत्रम्, चौथा पाद / 07 सूत्र

04. काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।। श्रीमद्भगवदगीता, 18/02, गीताप्रेस गोरखपुर, उ.प्र.

05. यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।
श्रीमद्भगवदगीता, 18/46, व्याख्याकार डॉ. विश्वनाथ शर्मा, आदर्श प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर – 03

06. यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।
एतान्यपि तु कर्माणि संग त्यक्त्वा फलानि च।
श्रीमद्भगवदगीता, 18/5–6, व्याख्याकार डॉ. विश्वनाथ शर्मा, आदर्श प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर – 03

07. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा तो संगोऽस्त्वकर्मणि।।
श्रीमद्भगवदगीता, 2/47, व्याख्याकार डॉ. विश्वनाथ शर्मा, आदर्श प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर – 03

08. ''त्यागो न युक्त इह कर्मसु नापि रागः।'' योगवसिष्ठ 5/5/54

09. कर्म एवं कर्मफलमींमासा, सतीश आर्य, पृष्ठ–07,
वेद विश्वायतन, पश्चिमपुरी नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010

10. नैवाकृतिः फलाति नैव कुलं न शीलं
विद्याऽपि नैव न य यत्नकृताऽपि सेवा।
भाग्यानि पर्वतपसा खलु संचितानी
काले फलन्तिपुरूषस्य यथैव वृक्षाः।।
भर्तृहरि नीतिशतकम् – 95 श्लोक, व्याख्याकार द्विवेदी, डॉ. सत्यनारायण, डॉ. सुमन मिश्रा, सुरभारती प्रकाशन, कानपुर– 1990

11. पर्यभूदिदनमणिर्द्विजराजं यत्करैरहह तेन तदा तम्।
पर्यभूत खलु करैर्द्विजराजः कर्म कः स्वकृतमत्रन भुड्.क्ते।।
नैषधमहाकाव्यम्, 05/06, नारायणी टीका, खेमराज, श्रीकृष्णदास, 1927, बम्बई।
12. ''जन्मान्तराधिगतकर्मविपाकजन्मैवोन्मीलति क्वचन कस्यचनानुरागः''
नैषधमहाकाव्यम्, 13/38, नारायणी टीका, खेमराज, श्रीकृष्णदास, 1927, बम्बई।
13. द्यौर्भूमिरापो ह्दयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः।
रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्।।
मनुस्मृति अध्याय– 08 श्लोक 86, भाषा टीका पं. रामेश्वर भट्ट, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान– 07, 1990

14. आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।
मनुस्मृति अध्याय– 08 श्लोक 84, भाषा टीका पं. रामेश्वर भट्ट, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान– 07, 1990

15. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः
तदर्थ कर्म कौन्तेय मुक्तसंग समाचर
श्रीमद्भगवदगीता, तृतीय अध्याय, श्लोक – 09 गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)

16. एष दीर्घायुषां मार्गः सुवृत्तानां सुकर्मिणाम्।
प्राणिहिंसा विमोक्षेण ब्रह्मणा समुदीरितः।।
श्री महेश्वरगीता श्लोक–390

17. 'प्रयोग पुरूषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात्' मीमांसादर्शन 6/2/3

18. शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुतमाधममध्यमाः।। मनुस्मृति 12/03
मनुस्मृति, भाष्यकार प्रो. सुरेन्द्र कुमार, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली–07

19. सत्वं रजतस्तमश्चैव त्रिन्विद्यादात्यनो गुणान्।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वनशेषतः।।
श्रीमद्भागवदगीता, 14 अध्याय, श्लोक–05, व्याख्याकार डॉ. विश्वनाथ शर्मा, आदर्श प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर – 03

20. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयसह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।
यजुर्वेद संहिता 40/14, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली।

21. ''न कर्मण्धामनारम्भानैष्कभ्यं पुरूषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।''
श्रीमद्भागवदगीता, तृतीय अध्याय, श्लोक–04, व्याख्याकार डॉ. विश्वनाथ शर्मा, आदर्श प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर – 03

RRIJM 2015, All Rights Reserved

22. अधिकारी तु ..... शाण्डिल्यविद्यादीनि
सदानन्द योगीन्द्र, वेदांतसार पृष्ठ सं. 06,
व्याख्याकार डॉ. रविकान्तमणिः हंसा प्रकाशन, चाँदपोल बाजार, जयपुर–302001

23. भिद्यते ह्दयग्रन्थिरिछद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। इत्यादि श्रृतिः
सदानन्द योगीन्द्र, वेदांतसार पृष्ठ सं. 85,
व्याख्याकार डॉ. रविकान्तमणिः हंसा प्रकाशन, चाँदपोल बाजार, जयपुर–302001

24. तौ धर्म पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितो सह।
याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम्। मनुस्मृति 12/19
भाष्यकार प्रो. सुरेन्द्र कुमार, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली–07

25. यद्याचरति धर्म स प्रायशोर्मऽधर्ममल्पशः।
तैरेव चावृतौ भूतैः स्वर्गे सुखमुखपाश्नुते।। मनुस्मृति 12/20
भाष्यकार प्रो. सुरेन्द्र कुमार, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली–07.

26. एता दृष्टवास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतो धर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः।। मनुस्मृति 12/23
भाष्यकार प्रो. सुरेन्द्र कुमार, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली–07

RRIJM 2015, All Rights Reserved